शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

मार्च : १९५८ ☆ वर्ष तेरहवाँ, फाल्गुन वीर नि०सं० २४८४ ☆ अंक : ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

भव के अंत की भनक

यह मनुष्य अवतार प्राप्त करके यदि आत्मा में भव के अंत की भनक जागृत न की तो जीवन किस काम का ? जिसने जीवन में भव से छूटने का उपाय न किया, उसके और कीड़े-कौओं के जीवन में क्या अन्तर है ? इसलिये भाई, अब इस भव भ्रमण से आत्मा का उद्धार कैसे हो—उसका सत्समागम से उपाय कर !

सत्समागम से चिदानंदस्वभाव का अंतरंगोल्लासपूर्वक श्रवण करके उसकी प्रतीति करते ही तेरे आत्मा में भव के अन्त की भनक आ जायेगी।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५५]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग

का द्वितीय संस्करण

पाठकों की विशेष मांग के कारण जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग का प्रथम संस्करण शीघ्र ही शेष हो गया था, जिसका द्वितीय संस्करण छपने के लिये प्रेस में दे दिया गया है। १५ दिन में छप कर तैयार हो जावेगा। इच्छुक सज्जन शीघ्र ही प्राप्त कर सकेंगे। इसके तीनों भाग मनन करने योग्य हैं।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

तीसरा भाग

जैनधर्म का तात्त्विक हार्द समझने के लिये अवश्य स्वाध्याय करें

जिसमें प्रमाण, नय, (नयाभास) निक्षेप, अनेकान्त और स्याद्वाद का स्पष्ट अर्थ—सविस्तार शास्त्रोक्त आधार से दिये हैं, और पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म का स्वरूप, पुरुषार्थ तथा मोक्षमार्ग की चर्चा और गुणस्थान क्रम का वर्णन तथा विचारवान जीव शंका समाधान द्वारा यथार्थरूप में तत्त्व निर्णय कर सके ऐसी स्पष्ट शैली है। मूल्य ६३ नये पैसे

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पोस्टेज आदि अलग

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

मार्च : १९५८ ☆ वर्ष तेरहवाँ, फाल्गुन वीर नि०सं० २४८४ ☆ अंक : ११

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[२५]

स्वधर्मव्यापकत्व-शक्ति

[क्रमशः गतांक १५४ से चालू]

ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि अनादि काल से देव, मनुष्य, नारकी तथा तिर्यंच के अनेक शरीर धारण करने पर भी स्वयं तो एक स्वरूप ही रहा है; आत्मा अनेक शरीरोंरूप नहीं हुआ है किन्तु अपने अनंत धर्मोंरूप ही रहा है। इसप्रकार 'सर्व शरीरों में एक-स्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्म व्यापकत्वशक्ति आत्मा में है।' इसलिये शरीर के धर्मरूप न होकर आत्मा अपने ही धर्मों में रहता है। अनादिकाल संसार में भटकते-भटकते जीव ने अनंत शरीर धारण किये किन्तु उन सबमें उसका स्वरूप तो एक ही रहा है; वह कभी किसी शरीर के धर्म में व्याप्त होकर नहीं रहा है, किन्तु अपने निजधर्मों में व्याप्त होकर एक स्वरूप ही रहा है। मनुष्य शरीर हो, वहाँ अज्ञानी को देहबुद्धि से ऐसा लगता है कि 'मैं मनुष्य हूँ;' तिर्यंच का शरीर हो, वहाँ ऐसा लगता है कि 'मैं तिर्यंच हूँ;'—इसप्रकार जो शरीर हो, उस शरीररूप ही अपने को मानता है। यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीव! तू शरीररूप नहीं हो गया है। भिन्न-भिन्न अनंत शरीर धारण करने पर भी तेरा आत्मा तो ज्यों का त्यों रहा है। मनुष्य अवतार के समय तू मनुष्यरूप नहीं हो गया है; तू तो अपने

ज्ञानादि अनंत धर्मों से एकरूप है; शरीर अनंत बदल चुके हैं किन्तु तेरे स्वरूप के धर्म नहीं बदले। अनंत काल पूर्व तुझमें जो ज्ञानादि निजधर्म थे, उन्हीं ज्ञानादि निजधर्मों में इस समय भी तू विद्यमान है; इसलिये तू अपने निजधर्मों को देख।

शरीर तो एक जाता है और दूसरा आता है; दूसरा जाता है और तीसरा आता है; कोई भी शरीर अखण्डरूप से नहीं रहता; और आत्मा तो समस्त शरीरों में अखण्डरूप से एक का एक रहता है। आत्मा तो अपने ज्ञानधर्म में विद्यमान है और शरीर तो अचेतन जड़धर्म में विद्यमान है; इसलिये आत्मा तो ज्ञाता धर्मवाला है, और शरीर तो कुछ भी न जाननेवाले ऐसे जड़धर्मवाला है। इसप्रकार दोनों के धर्म प्रगट भिन्न-भिन्न हैं। अपने ज्ञानधर्म से उस-उस समय के शरीर को जानते हुए 'यह शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव अपने ज्ञानधर्म को भूल जाता है। देह को जानने का आत्मा का स्वभाव है, किन्तु स्वयं देहरूप हो जाए—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; स्वयं तो अपने ज्ञानादि स्वभावरूप धर्म में ही रहता है।

यहाँ शरीर की बात ली है, उसी अनुसार समस्त पदार्थों में भी समझ लेना चाहिये। हाथी को जानते हुए आत्मा, हाथी नहीं हो जाता, चींटी को जानते हुए चींटी नहीं हो जाता तथा नीम को जानते हुए वह नीम की तरह कड़वा नहीं हो जाता और आम को जानते हुए आम की तरह मीठा नहीं हो जाता;—भिन्न-भिन्न अनेक ज्ञेयों को जानते हुए स्वयं तो अपने ज्ञानधर्मरूप ही रहता है। अज्ञानी अपने ज्ञानधर्म को भूलकर, जिन-जिन परज्ञेयों को जाने, उन्हीं को अपना स्वरूप मान लेता है।

अभी तो एक इससे भी सूक्ष्म बात है कि जीव अनादि से राग-द्वेष-मोह करता आ रहा है, तथापि जीव का स्वभाव उसरूप नहीं हो गया है। जिस प्रकार अनेक शरीर धारण करने पर भी आत्मा, शरीरमय नहीं हो गया है; उसी समय अपनी पर्याय में अनादि से प्रतिक्षण रागादि करता आ रहा है, तथापि आत्मा का स्वभाव, रागमय नहीं हो गया है। क्षण में राग, क्षण में द्वेष, क्षण में हर्ष, क्षण में शोक, क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ—इसप्रकार अनादि काल से भिन्न-भिन्न विकारी भाव बदलते रहते हैं, तथापि एक का एक विकारी भाव अखण्डरूप से नहीं रहता; किन्तु आत्मा अपने अनंत धर्मोंसहित अखण्डरूप से अनादि-अनंत एकरूप वर्तता है; इसलिये विकार उसका वास्तविकस्वरूप नहीं है। अनंत धर्मों में व्यापकत्व त्रिकाल है, वही वास्तविकस्वरूप है। ऐसे स्वरूप को पहिचाने तो पर्याय में से रागादि का व्यापकत्व छूट जाये और निर्मलता व्याप्त हो।

अज्ञानी तो देहरूप या रागरूप ही आत्मा का अनुभवन करता है और ज्ञानी तो ज्ञान-

आनन्दादि अनंत धर्मों में व्यापकत्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है, इसलिये उसके अनुभव में ज्ञान-आनन्दादि अनंत धर्मों की शुद्धता का वेदन है 'मेरा आत्मा सदैव दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि अपने निज धर्मों में ही विद्यमान है'—ऐसी श्रद्धा करे, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि सर्व धर्मों का शुद्ध परिणमन हुये बिना न रहे।

दो आदमी इकट्ठे हों, वहाँ पूछते हैं कि—'कहाँ रहते हैं ?' उसीप्रकार यहाँ आत्मा से कोई पूछे कि—'कहाँ रहते हैं ?' तो ज्ञानी कहते हैं कि 'अपने निजधर्मों में रहते हैं।' आत्मा अपने निजधर्मों में ही रहता है, निजधर्म को छोड़कर वह कहीं बाहर नहीं रहता। आत्मा, शरीर में तो नहीं रहता, किन्तु मात्र रागादि में रहे, उसे भी वास्तव में आत्मा नहीं कहते। आत्मा तो अपने अनंत धर्मों में और उनकी निर्मल पर्यायों में रहनेवाला है।—ऐसे स्वरूप में पहिचाने, तभी आत्मा को पहिचाना कहा जाता है।

प्रश्न—इस समय तो आत्मा शरीर में विद्यमान है न ?

उत्तर—अरे भाई ! इस समय भी क्या आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर शरीररूप हो गया है ? शरीर में आत्मा किस प्रकार रहा है ? शरीर का एकबार पृथक्करण तो कर देख ! शरीर तो रक्त, माँस, मज्जा आदि सात धातुओं का पुतला है और यह भगवान आत्मा तो चैतन्य धातु का पिण्ड है। एक-दूसरे के संयोग में दिखाई देते हैं, इसलिये लोग कहते हैं कि आत्मा, शरीर में विद्यमान है; किंतु वास्तव में तो इस समय भी आत्मा अपने गुण-पर्यायरूप धर्मों में ही विद्यमान है। आत्मा अपने धर्मों को कभी छोड़ता नहीं है और शरीरादि को कभी ग्रहण नहीं करता।

सड़ा हुआ शरीर हो या सर्वांग सुन्दर शरीर हो, नारकी का शरीर हो या देव का दिव्य शरीर हो—उस किसी शरीररूप आत्मा हुआ ही नहीं है; आत्मा तो एक ही धारावाही शरीररूप (चेतन शरीररूप) रहा है। शरीर तो अचेतन पुद्गलों से रचित है किन्तु आत्मा कहीं अचेतन नहीं है, वह तो चैतन्यमूर्ति है। अचेतन शरीर में चैतन्यमूर्ति आत्मा कैसे रह सकता है ? आत्मा तो अपने चैतन्यधर्म में ही विद्यमान है। अहो ! देह तथा आत्मा का ऐसा स्पष्ट भिन्नत्व होने पर भी अज्ञानी जीव को मोह के कारण उसकी भिन्नता भासित नहीं होती।

हनुमानजी वानर वंश के राजकुमार थे; उनका मुख्य नाम शैलकुमार था। वे कामदेव थे, इसलिये उनका रूप छह खण्ड में श्रेष्ठ था। उसीप्रकार श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार भी कामदेव थे। आदिनाथ भगवान के पुत्र बाहुबली भी कामदेव थे; उन्हें देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूपी आत्मा

का भान था। छह खण्ड में श्रेष्ठ सुन्दर शरीर होने पर भी उन्हें शरीर में किंचित् आत्मबुद्धि नहीं थी। जिस प्रकार आत्मा स्तंभ से पृथक् है, उसी प्रकार आत्मा को देह से भी अत्यन्त भिन्न मानते थे। हमारा आत्मा इस सुन्दर शरीर में विद्यमान है—ऐसी बुद्धि स्वप्न में भी नहीं थी—आत्मा के स्वधर्म के भान में देहादि से उदास थे, उसमें स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता था। जिस प्रकार कोई राहगीर रास्ते पर जा रहा हो तो उसे एक के बाद एक वृक्ष की छाया में से गुजरना पड़ता है; किन्तु मैं इस वृक्ष की छायारूप हो गया हूँ-ऐसी कल्पना उसे नहीं होती। आम, अशोक, चम्पा, जामुन, सुपारी, नारियल आदि अनेक प्रकार के वृक्षों की छाया से गुजरते हुए भी मनुष्य तो ज्यों का त्यों एक स्वरूप रहा है, वह कहीं मनुष्य मिटकर वृक्ष की छायारूप नहीं हो जाता। उसी प्रकार संसार परिभ्रमण में आत्मा एक के बाद एक शरीर धारण करता और छोड़ता है। अनेक शरीरों में से गुजरते हुए 'मैं इस शरीररूप हो गया हूँ'—ऐसी कल्पना भी ज्ञानी को नहीं होती। देव, मनुष्य, हाथी, बैल आदि के शरीर से गुजरने पर भी आत्मा तो ज्यों का त्यों उसीरूप रहा है, वह कहीं चैतन्य मिटकर जड़ शरीररूप नहीं हो गया है। भाई, इसप्रकार तेरा स्वरूप स्पष्टतया देह से अत्यन्त भिन्न है, तो फिर भिन्न को भिन्नरूप मानने में तुझे क्या आपत्ति है!!! जिस प्रकार रास्ते पर चलनेवाला मनुष्य वृक्ष की परछाईं में से गुजरता जाता है, वहाँ उस मनुष्य का स्वभाव कहीं छायारूप नहीं हो जाता; मनुष्य तो सारी परछाइयों को पार करके ज्यों का त्यों आगे निकल जाता है; उसी प्रकार अनादि संसार मार्ग में चलता हुआ आत्मा एक के बाद एक शरीर से गुजरा है, लेकिन वह कभी किसी शरीररूप नहीं हुआ, सदैव एक अखण्डरूप से अपने में ही विद्यमान है। सर्व आत्माओं में ऐसी शक्ति है कि वे स्वधर्म में ही रहते हैं। जो ऐसे निज धर्मों की पहिचाने, उसे शरीर का सम्बन्ध छूटकर अशरीरी मुक्तदशा हुए बिना न रहे।

आत्मा, शरीर के धर्म में रहा ही नहीं है, तो फिर यह बात कहाँ रही कि आत्मा, शरीर की क्रिया करे? भाषा बोली जाती है, वह शरीर का धर्म है; जीव का नहीं।

प्रश्न—इसमें तो क्रिया उड़ जाती है?

उत्तर—नहीं; जिसकी जो क्रिया है, उसकी उसी में स्थापना होती है। जीव की क्रिया को जीव में स्थापित किया जाता है और शरीरादि अजीव की क्रिया को अजीव में स्थापित करते हैं; इसलिये अजीव की क्रिया जीव में मान ली है, वह बात उड़ जाती है। आत्मा, शरीर की क्रिया करता है, अथवा शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है—ऐसा जिसने माना, उसने आत्मा को

'स्वधर्म व्यापक' नहीं माना किन्तु जड़ शरीर के धर्मों में व्यापक माना है; यानि आत्मा को जड़रूप माना है और जड़ को आत्मारूप माना है, जीव को अजीव और अजीव को जीव माना—वह मिथ्यात्व है। और मिथ्यात्व ही अधर्म की महान क्रिया है। आत्मा तो ज्ञानादि स्वधर्मों में ही विद्यमान है, और शरीर से पृथक् है—इसप्रकार दोनों के धर्मों को भिन्न-भिन्न पहिचानकर, स्वधर्म में व्यापक आत्मा की श्रद्धा करना, सो अपूर्व सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व होने पर आत्मा अपनी निर्मल पर्यायों में व्याप्त होता है, और वही धर्म की क्रिया है।

शरीरादि जड़पदार्थों में तो तीन काल में एक क्षण भी आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है। अज्ञानदशा में रागादि को ही निजस्वरूप मानकर उसमें व्याप्त होता था; उस समय स्वधर्म व्यापक शक्ति का भान नहीं था। अब, 'मेरे आत्मा का स्वभाव तो मेरे अनंत धर्मों में ही व्याप्त है, विकार में या पर में व्याप्त होने का मेरा स्वभाव नहीं है'—ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर साधक जीव अपनी निर्मल पर्यायों में ही तन्मय होकर उनमें व्याप्त होता है, रागादि में भी वह तन्मय होकर व्याप्त नहीं होता; रागादि दूर होकर उसे अल्पकाल में मुक्तदशा हो जाती है।

प्रश्न—आत्मा तो स्वधर्म में सदैव विद्यमान ही है, तो फिर उसे धर्म करने को क्यों कहते हैं?

उत्तर—देखो, आत्मा सदैव स्वधर्म में विद्यमान है—ऐसा भान करे तब तो उस जीव को पर्याय में भी सम्यग्दर्शनादि धर्म होते ही रहें। द्रव्यस्वभाव से आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानादि धर्मों में व्याप्त है, किन्तु अनादि से अज्ञानी को उसका भान नहीं है; इसलिये उसे पर्याय में निजधर्म का अनुभव नहीं होता; इसलिये उससे कहते हैं कि तू अपने निजधर्म को पहिचानकर उसका अनुभव कर तो तुझे पर्याय में सम्यग्दर्शनादि धर्म होंगे।

समयसार की १८ वीं गाथा की टीका में भी इसी शैली का प्रश्न पूछा है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निरंतर सेवन (अनुभवन) का उपदेश दिया, वहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से एकमेक है, पृथक् नहीं है; इसलिये ज्ञान का सेवन करता ही है; तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने का उपदेश क्यों दिया जाता है?

तब उसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, तथापि एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयं बुद्धत्व अथवा बोधित बुद्धत्व कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थात् आत्मा स्वभाव से तो सदैव ज्ञानस्वरूप होने पर भी, पर्याय में अनादि से अज्ञान का सेवन कर रहा है किन्तु ज्ञानस्वभावोन्मुख

होकर पर्याय में कभी एक क्षण भी उसका सेवन नहीं किया और जब तक पर्याय में ज्ञानस्वभाव का सेवन न करे, तब तक वह आत्मा अज्ञानी है। जब अन्तरोन्मुख होकर पर्याय को ज्ञानस्वभाव में एकाकार करके उसका सेवन (श्रद्धा-ज्ञान-लीनता) करे, तब आत्मा ज्ञानी होता है। इसप्रकार पर्याय में ज्ञान नया प्रगट होता है। उसी प्रकार यहाँ आत्मा को स्वधर्म व्यापक कहा, उसमें भी इसीप्रकार समझना। स्वभाव से अपने स्वधर्म में त्रिकाल व्याप्त होने पर भी, उसका भान करे, तब पर्याय में उसका निर्मल परिणमन हो और धर्म प्रगटे। इस प्रकार निर्मल पर्याय को साथ लेकर इस शक्ति का वर्णन किया है—यह बात अनेकों बार स्पष्ट की गई है। निर्मल पर्याय को साथ लिये बिना शक्ति की प्रतीति किसने की? प्रतीति करने का कार्य तो निर्मल पर्याय में ही होता है; इसलिये निर्मल पर्याय को साथ लेकर प्रतीति करे, उसी को आत्मा की सच्ची प्रतीति होती है। पर्याय में किंचित् मात्र निर्मलता न हुई हो और अकेली शुद्ध शक्ति की प्रतीति करने जाये तो उसे सच्ची प्रतीति नहीं होती, किन्तु एकान्त हो जाता है।

आत्मा अपने स्वधर्म में ही व्यापक है, किसी पर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि भैंस मर गई हो और उसके चमड़े का गोफन बनाकर कोई हिंसा करे तो उसका पाप भैंस के जीव को भी लगता है। देखो! यह मूढ़ जीवों की बात! उन्होंने तो आत्मा को शरीर के धर्मरूप ही माना है। जब भैंस का आत्मा उस शरीर में था, तब भी उस शरीर की क्रिया के कारण उसे पाप नहीं लगता था। शरीर का चमड़ा, आत्मा ने कब बनाया है जो उसे उसका पाप लगे? शरीर, आत्मा के कारण नहीं हुआ है, किन्तु परमाणु की रचना है; आत्मा का धर्म या पाप-पुण्य, शरीर में नहीं रहते। आत्मा, शरीररहित त्रिकाल अपने स्वरूप में है; उसे जाने बिना शरीरादि को वास्तव में छोड़ा नहीं कहा जा सकता।

'काय से किये हुए पाप को मैं छोड़ता हूँ'—यह तो चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक काया की ओर का राग छूट जाये, उसकी बात है। उसके बदले अज्ञानी तो शरीर से ही पाप होना मानता है और शरीर को मैं छोड़ूँ, यह भी मानता है; इसलिये वास्तव में वह शरीर को छोड़ता नहीं है किन्तु उलटा शरीर के साथ एकताबुद्धि करके मिथ्यात्व का सेवन करता है, और आत्मा के सम्यग्दर्शनादि धर्मों को छोड़ता है। भाई! पहले शरीर के साथ की एकत्वबुद्धि तो छोड़! काया से भिन्न आत्मा को तो जान! फिर तुझे मालूम होगा कि काया को छोड़ने का क्या अर्थ होता है। काया ही मैं हूँ—इसप्रकार जो काया को अपना माने, वह उसे छोड़ेगा कहाँ से? काया मैं नहीं हूँ, मैं तो अपने

ज्ञानादि अनंत धर्मों में ही विद्यमान हूँ; कायारूप मैं कभी हुआ ही नहीं हूँ, कार्मण काय में भी मैं कभी नहीं रहा हूँ, मैं तो सदैव अपनी चैतन्य काया में ही विद्यमान हूँ;—इसप्रकार जो देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का ज्ञान करे, उसने श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से काया को छोड़ दिया है। इसलिये हे जीव! शरीर से अत्यन्त भिन्न और अपने अनंत धर्मों से सदैव अभिन्न—ऐसे अपने स्वभाव का ऐसा निर्णय कर कि जिससे शरीर का सम्बन्ध छूटकर अशरीरी सिद्धदशा की अवश्य प्राप्ति हो।

शरीर, आत्मा का निवास स्थान नहीं है; ज्ञानादि अनंत धर्म ही आत्मा का निवास स्थान है; उसी में आत्मा रहता है। अज्ञानी ऐसे अनंत धर्मों का निवास स्थान छोड़कर जड़ शरीर में अपना निवासस्थान मानता है, तथापि वह भी कहीं जड़ में तो नहीं रहता; वह अपने अज्ञानभाव में रहता है।

एक जगह हिजड़ा लोगों में ऐसा रिवाज है कि जब नये मकान में निवासस्थान बनाते हैं, तब वहाँ सब रोते-पीटते जाते हैं। देखो, यह नपुंसकों का निवासस्थान!! उसी प्रकार अनंत धर्मस्वरूप चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसमें निवास करने के पुरुषातन से जो रहित हैं—ऐसे मूढ़ अज्ञानी जीव, चैतन्य का निवासस्थान छोड़कर जड़ में और शुभाशुभ विकार में अपना निवास मान रहे हैं। उन्हें समझाते हैं कि अरे जीवो! वह तुम्हारा निवासस्थान नहीं है; विकार में निवास करने का तुम्हारा स्वभाव नहीं है, तुम्हारा स्वभाव तो अपने श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादि अनंत धर्मों में वास करने का है; इसलिये अपने स्वभाव को पहिचानकर उसमें निवास करो, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करो, और विकार की वासना छोड़ो!

अपने अनंत धर्मों में अपना निवास है, उसे न मानकर जो जड़ शरीरादि में अपना निवास मानते हैं, वे स्थूल अज्ञानी हैं, उन्हें जैनधर्म की गंध तक नहीं है; वे तो अजैनधर्मी अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं। खरगोश जैसा कोमल अथवा मगर जैसा कठोर, रीछ जैसा काला अथवा हंस जैसा सफेद आत्मा कभी हुआ ही नहीं है; आत्मा तो अपने अनंत धर्मों में ही विद्यमान है। 'आत्मा अनंत धर्मों में विद्यमान है'—ऐसा कहने से अनंत धर्म और उनमें रहनेवाला आत्मा—ऐसी भिन्न-भिन्न दो वस्तुएँ नहीं समझना चाहिये; किंतु आत्मा स्वयं अनंत धर्मस्वरूप है; अनंत धर्मों से भिन्न अन्य कोई आत्मतत्त्व नहीं है।—ऐसे अनंत धर्मस्वरूप एकाकार अपने आत्मा को सम्यक्तया पहिचानना, सो अनेकान्त है और उस अनेकान्त का फल परम अमृत है; अर्थात् आत्मा को पहिचानकर उसका अनुभव करने से परम आनन्दरूप अमृत का स्वाद अनुभव में आता है।

—यहाँ पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

परम शांतिदायी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[३]

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ कृष्णा ४, 'समाधिशतक' गाथा-३]

इसप्रकार पहले श्लोक में सिद्ध भगवान को तथा दूसरे श्लोक में अरिहंत भगवान को नमस्कार करके, अब तीसरे श्लोक में श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि—जो मात्र सुख का अभिलाषी है—ऐसे मोक्षार्थी जीवों के लिये मैं, कर्ममल से विभक्त ऐसे सुन्दर आत्मा का स्वरूप कहूँगा:—

श्रुतेनलिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

शास्त्रकार श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि—मैं श्रुत से, अर्थात् कुन्दकुन्द भगवानादि पूर्वाचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों से, तथा लिंग से अर्थात् युक्ति-अनुमान से और आत्मशक्ति अनुसार चित्त की एकाग्रता द्वारा सम्यक् प्रकार से जानकर तथा अनुभवन करके, अब भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा। किसके लिये कहूँगा? कि जीव मात्र आत्मसुख का ही अभिलाषी है; विषयों से पार ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्य आनन्द की ही जिसे भावना है—ऐसे भव्य जीव के लिये मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा।

देखो, जिनके चरण-कमल देवों से पूज्य हैं—ऐसे पूज्यपाद स्वामी स्वयं आत्मा का अनुभव करते-करते यह रचना करते हैं। वे पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास करते थे और अनेक ऋद्धियाँ उन्हें प्रगट हुई थीं; महान बुद्धि के सागर थे और आत्मशान्ति के अनुभव में लीन थे।—ऐसे दिगम्बर संत कहते हैं कि—अहो! जो जीव, आत्मा के अतीन्द्रियसुख के लिये झूर रहे हैं, उनके

लिये मैं कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा, कि जिस आत्मा को जानने से अवश्य अतीन्द्रिय आनन्द होता है। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है; जगत के अनंत कालीन भवभ्रमण के दु:ख से थककर जिसे मात्र आत्मसुख की ही स्पृहा जागृत हुई है—ऐसे भव्य आत्मा के लिये यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा।

मुझे मेरे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना है, और वह मुझे अवश्य प्राप्त होगा—इसप्रकार जो आत्मसुख को प्राप्त करना चाहता है, उसे यह बात समझाते हैं। ''मैं अभव्य होऊँगा, मुझे आत्मा का आनन्द प्राप्त नहीं होगा''—ऐसा सन्देह जिसे दूर हो गया है, और आनन्द का उपाय बतलानेवाले देव-शास्त्र-गुरु की आस्था हुई है; वह जीव आत्मसुखाभिलाषी होकर उसका उपाय जानने के लिये आया है;—ऐसे आत्मा को यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप समझाकर, सुख का उपाय बतलाते हैं। दु:ख तो क्षणिक पर्याय में है, उसका नाश होकर सुख कहाँ से प्रगट होगा ? —तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव में अतीन्द्रियसुख है, उसी में से वह प्रगट होगा। सुख वर्तमान में नहीं है और त्रिकाल में है—ऐसा अनेकान्त जानकर, जहाँ त्रिकालस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ पर्याय में भी सुख हुआ और दु:ख दूर हो गया। पर से भिन्न आत्मा का स्वरूप जानकर, उस ओर उन्मुख होना ही हित का उपाय है; इसलिये आचार्यदेव हित के कामी जीव को भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं।

अहो, श्रोता कैसा है ?—कि जिसे मात्र आत्मसुख की ही स्पृहा है, जगत के बाह्य विषयों की अभिलाषा नहीं है; 'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग'—ऐसे पात्र श्रोता को सुख का उपाय बतलाते हैं। 'जगत् इष्ट नहिं आत्म से'—एक आत्मा के अतीन्द्रियसुख के अतिरिक्त जिसे जगत् में अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है, जिसे मात्र आत्मानन्द की ही भावना है, ऐसे भव्य जीव को मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा।—ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं।

बारह अंग चौदह पूर्व का सार यह है कि—कर्म से भिन्न, संयोग से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसका लक्ष करना और आश्रय करके उसमें स्थिर होना चाहिये। जिसने ऐसे आत्मा का लक्ष किया, उसका जन्म सफल है। ऐसे लक्ष बिना भले द्रव्यलिंगी साधु हो जाये, तथापि उसका जन्म सफल नहीं। सुख और शांति तो भीतर से आते हैं या बाहर से ? अंतरंग स्वभाव में शांति है, उसी में से शांति आती है। इसलिये उसका एकत्व और लक्ष करना ही सर्व शास्त्रों का सार है; और जिसने ऐसा स्वानुभवपूर्वक लक्ष किया, उसका अवतार सफल है।

समयसार की पाँचवीं गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि—''मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप अपने निज वैभव से बतलाऊँगा। मुझे अपने गुरु ने अनुग्रहपूर्वक जो शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया है, उससे और अपने आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन आदि से जो आत्मवैभव प्रगट हुआ है, उस सर्व वैभव से मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा! यहाँ भी पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि मैं कर्मादि से भिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा। अशुद्धता का तो जगत् अनुभव कर ही रहा है किन्तु शुद्ध आत्मा को कभी नहीं जाना; इसलिये जो सुखाभिलाषी है, उसे तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही जानने योग्य है—शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही आराध्य है। इस 'समाधि शतक' में ही आगे ५३ वीं गाथा में कहेंगे कि—जिसे मोक्ष की अभिलाषा है—ऐसे जीव को तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा की ही कथा करना चाहिये; अन्य अनुभवी पुरुषों से भी उसी की पृच्छा करना चाहिये; उस आत्मस्वरूप की ही इच्छा, अर्थात् प्राप्ति की भावना करना चाहिये और उसी में तत्पर होना चाहिये कि जिससे विद्यामय ऐसी अज्ञानदशा छूटकर ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति हो। आत्मार्थी को अपने आत्मस्वरूप की बात के सिवा अन्य बातों में रस नहीं होता..... उसे तो सर्व प्रकार से एक आत्मस्वरूप की ही प्राप्ति का उद्यम कर्तव्य है।

और 'योगसार' में भी कहते हैं कि—विद्वान पुरुषों को यह एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही निश्चल मन से पठन करनेयोग्य है, वही ध्यान करनेयोग्य है, वही आराधना करनेयोग्य है, वही पृच्छा करनेयोग्य है, वही श्रवण करनेयोग्य है, वही अभ्यास करनेयोग्य है, वही उपार्जन करनेयोग्य है, वही जाननेयोग्य है, वही कथन करनेयोग्य है, वही प्रार्थना करनेयोग्य है, वही शिक्षा करनेयोग्य (विनेय) है तथा वही स्पर्श करनेयोग्य है—कि जिससे आत्मा सदा स्थिर रहे। देखो, यहाँ कई बोलों से एक आत्मा को ही सर्व प्रकार से उपादेय कहा है।

जगत के जीवों को—जिन्हें सुख की आवश्यकता हो उन्हें—यह पर से भिन्न शुद्ध आत्मा जाननेयोग्य है; उसे जाने बिना कदापि सुख नहीं हो सकता। चैतन्यस्वरूप आत्मा के सन्मुख होना ही सुख का उपाय है, और उसके लिये ही शास्त्रों में संतों का उपदेश है। सर्व उपदेश का रहस्य क्या? तो कहते हैं—शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख होकर उसे जानना ही सर्वशास्त्रों का सार है। इसके अतिरिक्त जो अन्य बाह्य उपायों से सुख का होना कहते हों, वे उपदेशक भी सच्चे नहीं हैं और उनका उपदेश भी हितोपदेश नहीं है। हितोपदेश तो यह है कि तू तेरे शुद्ध आत्मा को जानकर उस ओर उन्मुख हो।

आगम से, अनुमान से, और अनुभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानकर, मैं अपनी शक्ति अनुसार उसका कथन करूँगा। जिन्हें शुद्ध आत्मा की जिज्ञासा है—आत्मा के आनन्द की जिज्ञासा है—ऐसे भव्य जीव उस शुद्ध आत्मा को जानें। मुझे अपना सुख कैसे प्राप्त हो, मेरे आत्मा में शांति का वेदन कैसे हो ?—ऐसी जिसके अन्तर में अभिलाषा है, उस जीव के लिये यहाँ शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुनाते हैं।

आगम में शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा बतलाया है ? कि—

अेको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

मेरा आत्मा एक शाश्वत् ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप है और शेष सर्व संयोग लक्षणरूप भाव मुझसे बाह्य हैं।

इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेवादि संतों ने नियमसार, समयसारादि परमागमों में शुद्ध आत्मा का स्वरूप जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार जानकर, तद्नुसार मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा।

और कहते हैं कि मैं लिंग अर्थात् युक्ति और अनुमान द्वारा भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा। वह इसप्रकार—शरीरादि से आत्मा भिन्न है, क्योंकि वह भिन्न लक्षण से लक्षित है; जो भिन्न लक्षण द्वारा लक्षित होते हैं, वे भिन्न होते हैं। क्योंकि जल और अग्नि के लक्षण (शीत और उष्ण) भिन्न-भिन्न होने से वे प्रगटरूप से पृथक् हैं। आत्मा उपयोगस्वरूप से लक्षित है और शरीरादि अपने से विरुद्ध ऐसे अनुपयोग जड़स्वरूप से लक्षित हैं; इसलिये दोनों में पृथक्ता है। उसीप्रकार रागादिक भावों से भी ज्ञान की भिन्नता है, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न हैं।—इत्यादि प्रकार से युक्ति तथा अनुमान से भी मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा।—किसके लिये ? कि जो जीव मात्र अतीन्द्रियसुख का अभिलाषी है, उसके लिये।

❀❀❀

(वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी)

जो जीव, आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का अभिलाषी है, उसके लिये मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा श्री पूज्यपादस्वामी इस तीसरी गाथा में करते हैं। किस प्रकार कहूँगा ?—कि आगम से, युक्ति से, अनुमान से और अपने अंतर के अनुभव से, अपनी आत्मशक्ति के अनुसार मैं शुद्ध आत्मा का कर्मादि से भिन्न स्वरूप कहूँगा। किसके लिये कहूँगा ?—कि जिसे आत्मा के सुख की अभिलाषा है, उसके लिये।

मेरा आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; मुझे अपना आनन्द कैसे प्राप्त—ऐसी जिसे आकांक्षा जागृत हुई हो, ऐसे जीव को सम्बोधन करके, मैं आत्मा का स्वरूप कहूँगा। जिसे संसार की या पुण्य की अभिलाषा है, ऐसे जीवों को भिन्न आत्मा का स्वरूप समझने की जिज्ञासा ही नहीं है; इसलिये ऐसे जीवों को श्रोतारूप से लिया ही नहीं है।

मुझे तो आत्मा के आनन्द की आवश्यकता है, कर्म सम्बन्ध से तथा इन्द्रियविषयों के सम्बन्ध से रहित मात्रा आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द की मुझे आवश्यकता है—ऐसी जिसे आकांक्षा जागृत हुई है, उसके लिये कर्मादि से भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं; क्योंकि ऐसे आत्मा का स्वरूप जानने से ही अतीन्द्रियसुख प्राप्त होता है। इसलिये आगम से, युक्ति से और अनुभव से ऐसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने योग्य है।

आगमः—

मेरा आत्मा एक शुद्ध ज्ञान-दर्शन-लक्षण स्वरूप है; इसके अतिरिक्त जो बाह्य भाव-रागादि-शरीरादि हैं, वे सब मुझसे भिन्न संयोग लक्षणवाले हैं।—इसप्रकार लक्षण द्वारा पर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा, आगमों में बतलाया है; तद्नुसार जानकर मैं उसका वर्णन करूँगा।

अनुमान-युक्ति—

देह और आत्मा भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न हैं, जिनके लक्षण भिन्न हों, वे वस्तुऐं भिन्न होती हैं; जैसे कि—अग्नि और पानी। आत्मा तो उपयोग लक्षणी है और देहादि तो उपयोगरहित अचेतन हैं; इसलिये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। किसी का शरीर छोटा हो, तथापि बुद्धि अधिक होती है और किसी का शरीर बड़ा हो, किन्तु बुद्धि अल्प होती है—ऐसा दिखाई देता है, यदि शरीर और बुद्धि भिन्न-भिन्न न हों तो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये शरीर तो जड़ है और बुद्धि, अर्थात् ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है।—इसप्रकार शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार मैं युक्ति द्वारा देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप का कथन करूँगा।

देहादि की क्रिया द्वारा आत्मा लक्षित नहीं होता, उससे तो जड़ लक्षित होता है। आत्मा तो ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होता है।—इसप्रकार दोनों भिन्न हैं।

और भीतर जो राग-द्वेषादिभाव होते हैं, वे भी वास्तव में आत्मा के ज्ञान लक्षण से भिन्न हैं; क्योंकि राग-द्वेष तो आकुलता लक्षणवाले हैं; शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय है, वह भी आकुलता लक्षणवाले हैं—वे स्व-पर को नहीं जानते, बहिर्मुख भाव हैं। और ज्ञानस्वभाव तो शांत अनाकुल

है, उसका स्वभाव अन्तर्मुख होने का—स्व-पर को जानने का है;—इसप्रकार भिन्न लक्षण द्वारा रागादि से ज्ञान को सर्वथा भिन्न जानकर, उस ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को रागादि से भिन्न जानना चाहिये। सर्व प्रकार के लक्षणों द्वारा अनुमान से, युक्ति से आत्मा को देहादिक से तथा रागादि से पृथक् ज्ञान-दर्शनस्वरूप निश्चित करना चाहिये।

चित्त की एकाग्रता-अनुभव—

आगम तथा युक्ति से जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय किया, उसमें एकाग्र होकर उसका साक्षात् अनुभव किया है;—ऐसे अनुभवपूर्वक मैं भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाऊँगा। किसे ? कि जो आत्मा के आनन्द का अभिलाषी है उसे !

इस प्रकार आगम से, युक्ति से और अनुभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की ॥३॥

भव्य संबोधन

अरे जीव !

अनादि कालीन भवभ्रमण के दु:ख का अंत कैसे हो और अपूर्व आत्मसुख की प्राप्ति कैसे हो—उसकी यह बात है। अनंत काल में दुर्लभ ऐसा यह मनुष्य अवतार प्राप्त किया और ऐसा सत्समागम मिला, तब भी यदि आत्मा की दरकार करके सत् को नहीं समझा और आत्मज्ञान नहीं किया तो आयु पूर्ण होने पर मनुष्य अवतार को हार बैठेगा। इसलिये भाई ! यह अवसर प्रमाद में गँवाने जैसा नहीं है। इस मनुष्य अवतार में जीवन का यही ध्येय है कि अपने यथार्थ आत्मस्वरूप को पहिचानकर उसकी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना द्वारा भवभ्रमण का नाश करके मोक्षसुख की प्राप्ति करें। *[—पूज्य गुरुदेव]*

अपने आत्मा में मंगल-स्वस्तिक पूर।

तीर्थंकर भगवान का टेलीफोन आया है कि हे जीव! तू देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप है, तेरा आत्मा आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है.... उसका भान करने से अंतर में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आये, उसका नाम धर्म है; इसलिये तू उसका भान कर।

[मगसिर कृष्णा पंचमी के दिन धंधुका ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

यह ''पद्मनन्दि'' अध्यात्म शास्त्र है। इस देह में विद्यमान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसे पहिचानकर जो सर्वज्ञ हुए और उनकी वाणी में जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप आया, वह संतों ने इस अध्यात्म शास्त्र में प्रगट किया है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझे बिना जीव अनंत काल से चार गति में परिभ्रमण कर रहा है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

जो स्वरूप समज्या बिना पाम्युं दुःख अनंत,
समजाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवंत॥१॥

आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझे बिना जीव ने चार गतियों में अनंत दुःख प्राप्त किये हैं; वह आत्मस्वरूप जिन्होंने समझाया, उन श्री सद्गुरु भगवान को नमस्कार हो।

भाई! ज्ञानियों ने जैसा चिदानन्द आत्मा कहा है, वैसा जाने बिना तू चौरासी लाख जीव योनि में समस्त अवतार धारण कर चुका है और उनमें खूब दुःखी हुआ है। देखो, पैसे के बिना दुःखी हुआ—ऐसा नहीं कहा, किन्तु आत्मज्ञान के बिना ही दुःखी हुआ है। अज्ञान के कारण चार गति के अनंत दुःख सहन किये हैं, इसलिये हे जीव! अब सत्समागम से आत्मा को समझ।

यहाँ कहते हैं कि जीव को आत्मज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् शास्त्रज्ञान करता है, तथापि अंतरंग आत्मतत्त्व को जाने बिना वह संसार में ही भटकता है। भाई! लक्ष्मी तो अनंतबार प्राप्त हुई; महान राजा और देव भी अनंतबार हुआ, और शास्त्रज्ञान भी तूने अनंत बार किया, किन्तु शास्त्रों में कहे हुए चैतन्यतत्त्व को तूने कभी नहीं जाना।

भ्रमतोऽपि सदा शास्त्र जाले महित केचन।
न विदन्ति परं तत्त्वं दारुणीव हुताशनम्॥५॥

जिसप्रकार लकड़ी में अग्नि विद्यमान है, उसी प्रकार देह में यह चैतन्यतत्त्व विद्यमान है;

परन्तु अज्ञानी जीव अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी अपने भ्रम के कारण ऐसे परम चैतन्यतत्त्व को नहीं जानता।

देखो, यह सर्वज्ञदेव-तीर्थंकर भगवान का टेलीफोन है। बाह्य में व्यापार का टेलीफोन आये, वहाँ रुचिपूर्वक दौड़ता है, तो संत तुझे यह तीर्थंकर भगवान का टेलीफोन-सन्देश सुनाते हैं कि हे जीव! तू देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप है, उसका भान कर! इस बात का श्रवण भी जीव को दुर्लभ है। समयसार में कहते हैं कि—

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि काम भोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य॥४॥

आत्मा का अनुभव करने से जिस अतीन्द्रिय शांति का वेदन होता है, उसकी कल्पना भी जीव को कभी नहीं आई। आत्मा को बंधन करनेवाले ऐसे विषय-कषायों की ही कथा सुनी है, उसी का प्रेम और परिचय किया है; किन्तु जिससे अनंत जन्म-मरण का अंत आये-ऐसे चैतन्यस्वरूप की बात जीव ने कभी प्रेम से नहीं सुनी है और न उसका कभी परिचय किया है; इसलिये वह दुर्लभ है। जीव ने कभी शास्त्रों का अध्ययन किया तो वह भी वेदिया पांडे की भाँति पढ़ गया; किन्तु उनके मर्म को नहीं समझा। जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि भरी है, वह इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती, किन्तु ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है; उसी प्रकार इस देहरूपी लकड़ी में चैतन्य ज्योति आत्मा विद्यमान है। वह आत्मा इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता, किन्तु अंतर के ज्ञान द्वारा ही वह पहिचाना जाता है।—ऐसे आत्मस्वरूप को पहिचाने बिना जीव ने अनंत दुःख प्राप्त किये हैं। सत्समागम से बारम्बार आत्मा के आनन्दस्वरूप का श्रवण करके, उसका प्रेम और निर्णय करना चाहिये। जीव ने पूर्व काल में सबकुछ किया है किन्तु आत्मा को समझने की दरकार कभी नहीं की।

ज्ञान और आनन्द की सत्ता मेरे आत्मा में है—बाहर नहीं है। ऐसे आत्मा के लक्ष बिना शास्त्र पढ़ने पर भी अज्ञानी जीव, संसार में ही भटकता है। वास्तव में तो उसने शास्त्रों का अध्ययन किया ही नहीं है। शास्त्र तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को दर्शाते हैं; उसे यदि अपूर्व रुचि द्वारा पहिचान ले तो सभी शास्त्रों का यथार्थ अध्ययन किया कहा जा सकता है।

आत्मा, देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप है। जिस प्रकार नारियल में सफेद मीठा खोपरा है, वह ऊपर के जटों से, अन्दर की नरेली से तथा लाल रंग की छाल से पृथक् है, उसी प्रकार यह आत्मा,

ज्ञान और आनन्द का नारियल है; वह देहरूपी छाल से भिन्न है, अन्दर की कर्मरूपी नरेली से भी भिन्न है और रागरूपी लाली से भी भिन्न है। ऐसे आत्मा का अनुभव करने से अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आये, उसका नाम धर्म है। "वस्तु स्वभावः धर्मः" ऐसा भगवान ने कहा है; आत्मा का आनन्दस्वभाव है; उस आनन्द का वेदन हो, उसका नाम धर्म है।

देखो भाई, धर्म की यह व्याख्या अलौकिक है। लोग पुण्य को धर्म मान रहे हैं, उससे यह व्याख्या भिन्न है। पुण्य तो तू अनंत बार कर चुका है, किन्तु धर्म का स्वरूप तूने कभी नहीं जाना। भाई! तू विचार तो कर कि अनंत काल से संसार में भटकते हुए तूने क्या किया? क्या तूने अकेले पाप ही किये हैं? नहीं; पाप और पुण्य भी तूने अनंत बार किये; तथापि जन्म-मरण से अभी तक तेरा छुटकारा नहीं हुआ। एक क्षण भी यदि धर्म करे तो अल्पकाल में जन्म-मरण से छुटकारा हुए बिना न रहे। जन्म-मरण से छुटकारा कैसे हो—उसकी यह बात है। तुझे यह समझना बाकी रहा है।

शास्त्रों का पढ़ना भिन्न वस्तु है और आत्मा का अनुभव भिन्न है। शास्त्रों का अध्ययन भी जीव ने अनंत बार किया, किन्तु वास्तविक आत्मा क्या वस्तु है—उसका अनुभव कभी नहीं किया—राग का ही अनुभव किया है। अज्ञानी पैसादि में सुख मानकर ममत्व करता है; उस ममत्व के दुःख का वेदन उसे अपने में होता है; किन्तु पैसा कहीं उसके आत्मा में नहीं आ जाता, वह तो बाहर ही रहता है। लोग कहते हैं कि "इसके पास करोड़ों रुपये हैं;' ज्ञानी कहते हैं कि इसके पास करोड़ों रुपये नहीं है, किन्तु करोंड़ों का ममत्व इसके पास है। करोड़ों रुपये तो जड़-पुद्गल हैं, वे कहीं आत्मा में नहीं आते।

जीव ने बाह्य पदार्थों को पहिचाना, हीरा-मोतियों का मूल्यांकन किया, किन्तु अंतर में आत्मा क्या वस्तु है? चैतन्य हीरा कैसा है?—उसका मूल्यांकन कभी नहीं किया।

आज विहार का पाँचवाँ दिन है और पाँचवीं गाथा पढ़ी जा रही है। पद्मनन्दि स्वामी इस पाँचवी गाथा में कहते हैं कि—अरे प्रभु! जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि भरी है, उसी प्रकार तेरे आत्मा में आनन्द भरा है; बाह्य में कहीं तेरा आनन्द नहीं है। अरे! चैतन्य को चूककर जिन्हें बाह्य पदार्थों में रस का अनुभव हुआ है, वे चैतन्य के अपूर्व आनन्द को नहीं जानते। भगवान कहते हैं कि तेरा आत्मा भी मेरे आत्मा जैसा है; तुझमें भगवान होने की शक्ति है; इसलिये तू एक बार अपने आत्मा को पहिचान। अनंत काल में यह आत्मा को समझने का अवसर आया है, उसे जो बाह्य विषयों में गँवाता है, वह तो अंधे के समान है।

एक अंधा था। उसे एक गाँव में प्रवेश करना था। गाँव के चारों ओर किला था और किले में सिर्फ एक दरवाजा था। अंधे ने किसी से पूछा कि भाई! किले का दरवाजा कहाँ है? उस आदमी ने कहा कि—देख भाई! इस किसे को हाथ से टटोलते हुए चले जाओ। चलते-चलते दरवाजा आयेगा, वहाँ से अंदर चले जाना... अंधा चलने लगा। चलते-चलते जब दरवाजा आने का समय आया, उसी समय अंधे को खुजली शुरु हुई, इसलिये खुजलाते-खुजलाते चला गया और दरवाजा पीछे छूट गया; इसलिये फिर भटकने लगा... उसी प्रकार अनादिकाल से संसार में भटकते हुए इस जीव को मनुष्य अवतार में जब सत् समझकर मुक्तिपुरी में प्रवेश करने का समय आया, तब संतों ने उसे मुक्तिपुरी में प्रविष्ट होने का द्वार बताया... लेकिन मूढ़ अज्ञानी जीव अंधे की भाँति पुण्य को - शुभराग को भला मानने लगा अथवा विषय-कषायों में सुख मानकर जीवन बिता देता है और मुक्ति का द्वार छोड़कर भटकने लगता है। इसलिये संत कहते हैं कि अरे भाई! अनंतानंत अवतारों के दु:ख से छूटने का यह अवसर आया है; इसलिये अब तू सत्समागम द्वारा देहादि से भिन्न अपने परम तत्त्व को जान!

जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि है, किन्तु कहीं वह लकड़ी को काटने से प्रगट नहीं होती; अथवा आँखों से दिखाई नहीं देती; उसके लिये तो एक चिनगारी की आवश्यकता है। उसी प्रकार इस देह में आनन्द से परिपूर्ण चैतन्यतत्व है, किन्तु वह कहीं आँखों से दिखाई नहीं देता; अथवा शरीर के टुकड़े करने में उसमें दृष्टिगोचर नहीं होता; वह चैतन्यतत्व तो अंतर के ज्ञान द्वारा ही पहिचाना जाता है। परम चैतन्यतत्त्व को जाने बिना उसके आनन्द का वेदन नहीं होता। जगत के आनन्द से चैतन्य का आनन्द भिन्न है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को सुनने में भी जीव ने रस नहीं लिया। किंचित् प्रतिकूलता आये, वहाँ अच्छा नहीं लगता और उससे छूटना चाहता है; किन्तु भाई! जिसमें अनंत जन्म-मरण की अनंत प्रतिकूलता सहन करना पड़े—ऐसे अज्ञान का तो तू सेवन कर रहा है; इसलिये यदि तू वास्तव में जन्म-मरण के दु:ख से छूटना चाहता हो तो अज्ञान को छोड़ और सत्समागम से आत्मा का ज्ञान कर। आत्मा का यथार्थ ज्ञान करना ही जगत् में उत्तम मांगलिक है; उसी से पापों का नाश और पवित्रता की प्राप्ति होती है;—ऐसा मांगलिक ही धर्म है। आत्मा में ऐसा मंगलरूप स्वस्तिक पूरे बिना कभी आत्मा के भव का अंत नहीं आता। इसलिये सत्समागम से आत्मा का ज्ञान करके आत्मा में ऐसा मंगल-स्वस्तिक पूर, वही भव से छूटने का उपाय है। ★

आत्म प्राप्ति की दुर्लभता

[मंगसिर कृष्णा अष्टमी के दिन गोलाणा ग्राम में पू० गुरुदेव का प्रवचन]

(तत्त्वज्ञान तरंगिणी अ० ५, गाथा-४)

जिसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रेम है और उसकी प्राप्ति की भावना है—ऐसा जिज्ञासु जीव विचार करता है कि अरे! मैंने कल्पवृक्ष, चिन्तामणि तथा कामधेनु आदि पूर्वभवों में अनंत बार प्राप्त किये; किन्तु अपना शुद्ध चैतन्यरत्न कभी प्राप्त नहीं किया।

इस मनुष्यलोक के बीच जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के बीच मेरुपर्वत है; उसके आस-पास भोगभूमि में युगलिया मनुष्य होते हैं। जिन्होंने पूर्वभव में विशेष दानादि किये हों, वे वहाँ जन्म लेते हैं; वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं जो उन्हें इच्छित वस्तुएँ—वस्त्रादि देते हैं। ऐसे कल्पवृक्ष जीव को अनंत बार प्राप्त हुए किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति कभी नहीं हुई।

अनंत बार कोष मिले, एक क्षण में करोड़ों रुपये मिल जायें ऐसे निधान प्राप्त हुए, किन्तु इस चैतन्यनिधान के भान बिना जीव संसार में भटक रहा है। अरे! मैं कौन हूँ? उसका जीव को विचार भी नहीं आता। चिन्तामणिरत्न अर्थात् उसे हाथ में रखकर जिस वस्तु का चिंतवन किया जाये, वह प्राप्त होती है—ऐसा वह रत्न भी जीव को अनंत बार प्राप्त हुआ, किन्तु वह तो जड़ था; चैतन्यरत्न क्या वस्तु है, वह पूर्वकाल में कभी नहीं जाना। इस आत्मा के भीतर ही शांति भरी है। बाहर से शांति नहीं आती, किन्तु आत्मस्वभाव में ही शांति है। जिसप्रकार अफीम में बाहर से कड़वाहट नहीं आती, किन्तु वह स्वभाव से ही कड़वी है; मिस्री में बाहर से मिठास नहीं आती वह स्वभाव से ही मीठी है; उसी प्रकार आत्म स्वयं ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान या आनन्द बाहर से नही आता किन्तु अपने में ही भरा है।—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्मा का चिंतवन करना ही शांति का उपाय है। ऐसा चिन्तामणि समान अवतार धारण करके जीव अपने स्वरूप का चिंतन नहीं करता और बाह्य विषयों की चिन्ता में ही उसे बर्बादकर देता है, उसका दृष्टान्तः—

एक मनुष्य को कहीं से एक चिन्तामणिरत्न मिल गया। उसे भूख लगी थी, इसलिये उसने इच्छा की कि भोजन मिल जाये तो अच्छा हो!... तुरन्त भोजन प्राप्त हो गया... फिर सोने के लिए

पलंग माँगा, बँगला माँगा; वस्त्रादि माँगे; उन सबकी प्राप्ति हो गई... उसी समय कोई कौआ काँव-काँव करता वहाँ आ पहुँचा तो उस पर क्रोधित होकर उसे उड़ाने के लिये उसने चिन्तामणि रत्न फेंक दिया... और बँगले आदि सब उसी क्षण विलीन हो गये! उसी प्रकार इस जीव को संसार में भटकते-भटकते चिन्तामणिरत्न समान यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है.. वहाँ स्त्री, मकान, दुकान, खेती, पैसादि की चिन्ता में अज्ञानी जीव यह चिन्तामणिरत्न समान जीवन बर्बाद कर देता है—पर की चिन्ता में ही इसका चिन्तामणि समान अवतार क्षण में विलीन हो जाता है। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे जीव! यह जीवन प्राप्त करके तू अपने आत्मा का चिंतन कर!

भाई! तेरे आत्मा को अनादिकाल से यह जन्म-मरणरूपी महान रोग लगा है; वह रोग कैसे दूर हो—उसका सत्समागम से उपाय कर। देखो, छह महीने तक जीर्ण ज्वर बना रहे तो क्षयरोग की शंका होती है और यहाँ सोनगढ़ के पास जींथरी के टी.बी. अस्पताल में फोटू खिंचवाने के लिये आना पड़ता है, तो हे जीव! तुझे अनंत भव से यह जन्म-मरण का रोग लगा है, तू सत्समागम करके उसे मिटाने का उपाय तो पूछ! अपने आत्मा की फोटू तो खिचवा!

जिसप्रकार चने में मिठास भरी है, इसलिये उसे सेकने से वह प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा में आनन्द भरा है; इसलिये आत्मा का भान करने से आनन्द प्रगट होता है। अज्ञानीरूपी कचास के कारण उसे आनन्द के बदले दु:ख का वेदन होता है। आत्मा का ज्ञान करना ही आनन्द का उपाय है। ज्ञानी का समागम करके अन्तरोन्मुख होने पर आत्मा का भान होता है। ऐसे आत्मा के भान बिना जीव अनंत काल से चार गति में परिभ्रमण करके दु:खी हो रहा है।

पुण्य करके वह स्वर्ग में जाता है और फिर वहाँ से चार गतियों में परिभ्रमण करता है; पाप करके नरक में गिरता है। मोक्ष का उपाय तो पुण्य एवं पाप दोनों से पृथक् है। ऐसे मोक्ष के उपाय के प्रतीति करना, वह धर्म है। ऐसा मनुष्य भव पाकर, अरे आत्मा! तू विचार कर कि मेरे आत्मा का हित कैसे होगा? संसार में अन्य सब कुछ मिलना आसान किन्तु एक शुद्ध आत्मा की प्रतीति ही दुर्लभ है। संत वह बात समझाते हैं; इसलिये हे जीव! तू आत्मा की पहिचान—प्रतीति कर!

चैतन्य-चिंतन का उपदेश

[मंगसिर कृष्णा सप्तमी के दिन भोलाद ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(तत्त्वज्ञानतरंगिणी अ० ५, श्लोक - २)

आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है; उस ज्ञान-आनन्द की पूर्णता की प्राप्ति होने के बाद भगवान की वाणी में जो उपदेश निकला, उसे शास्त्र कहते हैं। उसमें कहते हैं कि अरे आत्मा! अनंतानंत काल से तू चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु कभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सका। हे भाई! तूने संसार में भटकते हुए कभी प्रेमपूर्वक आत्मस्वरूप की बात नहीं सुनी। देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है—उसके भान बिना तूने बाह्य में यह कर लूँ—वह कर लूँ—ऐसा शोरगुल मचाया है। चैतन्य के चिंतन को छोड़कर तूने पूर्वकाल में अनंत बार बाह्य पदार्थों का चिंतन किया और उससे चार गतियों में भटका; इसलिये हे जीव! अब संतों से निकट चैतन्य का श्रवण करके उसका चिंतन कर।

हूँ कोण छुं क्यांथी थयो, शुंस्वरूप छे मारुं खरुं,
कोना संबंधे वलगाण छे, राखुं के अे परिहरुं?

—ऐसे विचारों के बिना महान अधर्म तथा पाप करके यह जीव अनंत बार नर्क में गया और अनंत बार पशु हुआ। पशु तो बेचारे घास खाकर और भार ढोकर जीवन बिता देते हैं, उन्हें कहीं आत्मा के हित का विचार नहीं है। एक ऊँगली में चोट लगने पर भी कितने विचार करता है! तो फिर यह सम्पूर्ण आत्मा अनादिकाल से चारगतियों में भ्रमण करके दु:खी हो रहा है; उसका कैसे उद्धार हो—इस बात का विचार क्यों नहीं करता?

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अरूपी है, इस देह से भिन्न है। देह की पाँच इन्द्रियों द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता। आँख द्वारा सफेद-काला रंग दिखाई देता है किन्तु आत्मा तो रंग रहित है, वह आँख से दिखाई नहीं देता; कान से शब्द सुने जाते हैं किन्तु कान से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता; नाक से सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान होता है किन्तु आत्मा तो गंधरहित है, उसे कहीं नाक द्वारा नहीं सूंघा जा सकता; जीभ से रस का स्वाद आता है किन्तु आत्मा तो रस रहित है, वह जीभ द्वारा स्वाद में नहीं आ सकता; उसीप्रकार स्पर्श से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा तो अरूपी चैतन्यस्वरूप है, वह ज्ञान से ज्ञात होता है। अरे! आत्मा कौन है—उसका विचार नहीं करता; मैं मरकर कहाँ जाऊँगा

और मेरा क्या होगा;—उसका भी विचार नहीं करता और माँस भक्षण करता है, मदिरा पीता है, शिकार करता है—ऐसे महापाप के कार्य करने से वह जीव महान दुःख प्राप्त करता है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। जो रूपी नहीं है, वह आँख से कैसे दिखाई देगा? जिसमें शब्द नहीं है, वह कान से कैसे सुनाई देगा? जिसमें गंध नहीं है, वह नाक से कैसे सूँघा जा सकेगा? जिसमें शब्द नहीं है, वह कान से कैसे सुनाई देगा? जिसमें स्पर्श नहीं है, वह स्पर्श द्वारा कैसे ज्ञात होगा? और जिसमें रस नहीं है, वह जीभ द्वारा कैसे जाना जायेगा? आत्मा तो पाँचों इन्दियों से पृथक् है, वह किसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु अंतर में ज्ञानस्वभाव द्वारा ही ज्ञात होता है।

देखो, इस भाल प्रदेश (सौराष्ट्र तथा गुजरात के बीच का प्रदेश) में विहार करते समय बीच में खारी जमीन आई थी। उस खारी जमीन में जिस प्रकार वृक्ष नहीं उगते; उसी प्रकार जो जीव तीव्र पापों में लीन हैं, वे नर्क में जाते हैं। नरकों की भूमि क्षार भूमि जैसी है, वहाँ जानेवाले जीवों महान दुःख उठाना पड़ते हैं। तीव्र पाप में डुबे हुए जीवों को धर्म का विचार नहीं आता। अरे रे! अनंत काल में ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। यह शरीर तो क्षणमात्र में चला जायेगा, इसलिए इस मनुष्यभव में मुझे ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे मेरे आत्मा का हित हो।—ऐसा विचार करना चाहिये। शांति तो जीव के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में ही है; किन्तु महामोह के कारण जीव ने कभी उसका चिंतन नहीं किया; उसने तो स्त्री-पुत्रादि का ही चिंतन किया है। मृत्युपर्यंत पर की चिन्ता में लगा रहता है.... अनंत भवों में इसीप्रकार पर की चिंता करते-करते मरा.... किन्तु अपने स्वरूप का चिंतन कभी नहीं किया। "मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ"—ऐसे स्वरूप के स्मरणपूर्वक कभी समाधिमरण नहीं किया। भाई! अपने चिदानंदस्वरूप आत्मा के बिना कोई तुझे शरणभूत नहीं है; इसलिये ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को पहिचान। जीवन में आत्मा का भान किया हो, तभी मृत्यु के समय उसका स्मरण करेगा न? जीवन में जिसका मंथन किया होगा, उसी का स्मरण मृत्यु के समय होता है। चैतन्य का भान करके जीव ने कभी उसके स्मरणपूर्वक समाधिमरण नहीं किया। चैतन्यस्वरूप का भान करके उसके लक्ष से एक बार भी समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रभो! तूने जीवन को किंचित उज्ज्वल नहीं बनाया। ऐसा मनुष्य अवतार पाकर भी तूने आत्मा का हित नहीं किया... तो यह अवतार पूर्ण होने पर कहाँ अपना डेरा डालेगा। तेरे आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द भरे हैं। जिसप्रकार लैंडी पीपर में चौसठ पुटी

चरपराहट की शक्ति है; इसलिये उसमें से वह प्रगट होती है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है, उसका भान करने पर उसी में से ज्ञान-आनन्द प्रगट होते हैं। व्यापारादि में पापभाव करने पर पैसादि की प्राप्ति होती है, वहाँ मूढ़जीव ऐसा मानता है कि मैंने ऐसा किया, इसलिये मुझे पैसे की प्राप्ति हुई; किन्तु भाई! तेरे पाप के व्यापार से पैसे की प्राप्ति नहीं हुई है; वह तो पूर्व पुण्य का फल है; पुण्य के बिना लाखों उपाय करने पर भी पैसे की प्राप्ति नहीं होती। प्रथम तो सत्समागम से बारम्बार आत्मा का स्वरूप सुनकर उसका परिचय करना चाहिये। जिसप्रकार स्कूल में गिनती सीखने जाता है तो वहाँ उसे सैकड़ों बार रटता है; उसी प्रकार जिसे आत्मज्ञान करना हो तो उसे सत्समागम से बारम्बार उसका रटन करना चाहिये।

भाई! तेरे जीवन के पचास-साठ वर्ष तो बीत गये हैं तो अब शेष पाँच-दस वर्ष आत्म को समझने में व्यतीत कर। अरे! इस देह से भिन्न तत्त्व क्या है—उसकी मुझे कैसे प्रतीति हो! ऐसा विचार तो कर। जीवन में कभी आत्महित का उपाय नहीं किया, तो मृत्यु के समय तू किसकी शरण लेगा? कई लोग कहते हैं, अन्तकाल में आत्मा का धर्मध्यान करेंगे!—किन्तु भाई! इस समय जब जीवन में आत्मा की दरकार नहीं करता तो फिर मृत्यु के समय तू कहाँ से उसका ध्यान लायेगा! जैसे—जिसने कभी बन्दूक हाथ में न ली हो, बन्दूक को किस तरह पकड़ना या चलना चाहिये—उसकी जिसे खबर न हो, वह युद्ध में कैसे खड़ा रह सकता है? बन्दूक पकड़ते हुए भी उसके हाथ काँपेगे। उसी प्रकार जिसने जीवन में देह से भिन्न आत्मा को जानने की दरकार नहीं की, सत्समागम से श्रवण-मनन भी नहीं किया, वह देह छूटने के समय उसका चिंतन कहाँ से लायेगा? इसलिये भाई! जीवन में अपने हित का उपाय कर—ऐसा उपदेश है।

एक किसान पूछता था कि महाराज! हम बहुत दुःखी हैं; इस दुःख का कभी अंत होगा? तब कहा था कि भाई! पूर्वभव में पाप किये थे, उनके फल में यह दुःख प्राप्त हुआ है, इसलिये अब आत्म का भान करना ही इस भवचक्र से छूटने का उपाय है। आत्मा के ज्ञान बिना इस भव दुःख का कहीं अंत नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष की उम्र में कहते हैं कि—

बहुत पुण्य केरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे भवचक्रनो आंटो नहीं अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणो कां अहो राची रहो?

अरे जीव! ऐसा बहुमूल्य मनुष्य भव प्राप्त हुआ, उसमें तूने यदि आत्मज्ञान नहीं किया और भवचक्र का अंत नहीं किया तो यह मनुष्य भव पाकर तूने क्या किया? चींटी के और तेरे अवतार में क्या अंतर हुआ? आत्मज्ञान के बिना तू क्षण-क्षण भवमरण करके मर रहा है। उससे तेरे आत्मा का उद्धार कैसे हो—उसकी यह बात है।

मैं आत्मा जगत् का ज्ञाता साक्षी हूँ; किसी का कर्ता-हर्ता मैं नहीं हूँ—इसप्रकार जीव ने अपने आत्मा का विचार या विश्वास नहीं किया है और पर का विश्वास किया है; इसलिये हे भाई! सत्समागम से आत्मा के स्वरूप का श्रवण करके उसका विचार कर... उसका विश्वास कर। जिसे आत्मा की लगन लगी है, आत्महित की जिज्ञासा जागृत हुई है, वह सत्समागम द्वारा ज्ञानी के निकट आत्मा की बात सुनकर ऐसा विचार करता है कि अरे रे! मैंने अपने ऐसे स्वरूप का कभी विचार नहीं किया और भवभ्रमण में दु:खी होता रहा। अब ज्ञानी के निकट अपना शुद्ध स्वरूप का श्रवण करके भवभ्रमण का अंत करना है—ऐसी जिज्ञासा जागृत करके आत्मा का श्रवण-मनन करना चाहिये; तभी आत्मा का भान होगा और इस भवभ्रमण का अंत आयेगा।

संतों का सन्देश

धर्म के लिये बाह्य साधनों की खोज में भटकते हुए जीवों को संतों का सन्देश है कि—

हे जीव! शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं साधनों के साथ तेरा वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है; अनंत शक्तियों से परिपूर्ण तेरा शुद्ध ज्ञानस्वभाव ही तेरे धर्म का साधन है; इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति के लिये तू अनंत-शक्ति सम्पन्न अपने एक ज्ञानस्वभाव को ही साधनरूप से अंगीकार कर.... और उसके सिवा अन्य किसी भी साधन को ढूँढ़ने की व्यग्रता छोड़! आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधन को ढूंढ़ने में तेरी परतन्त्रता है। सर्व प्रकार से साधनरूप होकर स्वयं धर्म रूप परिणमित होने में समर्थ-ऐसे अपने 'स्वयं भू भगवान' को ही अन्तरोन्मुख होकर ढूंढ़ अन्य किसी की खोज न कर!

वेदन

प्रश्न—ज्ञानी को काहे का वेदन होता है ?

उत्तर—साधकदशा में ज्ञानी को आत्मा के ज्ञान-आनन्द का वेदन होता है; हर्ष-शोक का अल्प वेदन है किंतु उसमें एकत्वबुद्धिपूर्वक उसका वेदन नहीं है, इसलिये उसे वेदना की मुख्यता नहीं है।

प्रश्न—सर्वज्ञ परमात्मा को काहे का वेदन है ?

उत्तर—सर्वज्ञ परमात्मा को अपने परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है; हर्ष-शोक का वेदन उन्हें किंचित् मात्र नहीं है।

प्रश्न—अज्ञानी को काहे का वेदन होता है ?

उत्तर—अज्ञानी जीव हर्ष-शोक से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को नहीं जानता; इसलिये वह हर्ष-शोक में एकाकार होकर उसी का वेदन करता है; उसके ज्ञान-आनन्द का वेदन किंचित भी नहीं है। बाह्य संयोगों का वेदन तो कोई भी जीव नहीं करता।

प्रश्न—ज्ञानी को ज्ञान-आनन्द का तथा हर्ष शोक का—इसप्रकार दोनों वेदन होने पर भी ''उसे मात्र ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है और हर्ष-शोक का वेदन नहीं है''—ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—जिसके साथ अभेदता है, उसी का वेदन है और जिससे भिन्नता है, उसका वेदन नहीं है;—इस अपेक्षा से ज्ञानी को ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है और हर्ष-शोक का वेदन नहीं है - ऐसा कहा है। जो ज्ञान-आनन्दरूप निर्मलभाव प्रगट हुआ है, उसके साथ आत्मा की अभेदता होने से ज्ञानी उसी का वेदक है; और जो हर्ष-शोक होता है, उसे अपने स्वभाव से भिन्नरूप जानता है; इसलिये ज्ञानी उसका वेदक नहीं है। जिस पर दृष्टि पड़ी है, उसी का वेदन है।

प्रश्न—आनन्द का वेदन कैसे होता है ?

उत्तर—मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; हर्ष-शोकादि भाव मेरे स्वभाव से भिन्न हैं—ऐसा भेदज्ञान करके अंतर के ज्ञान-आनन्दस्वरूप की ओर ढलने से आत्मा के आनन्द का वेदन होता है। भेदज्ञान के पश्चात् साधकदशा में यद्यपि अल्प हर्ष-शोक होता है, तथापि श्रद्धा में तो वेदन का एक ही प्रकार है।

प्रश्न—'श्रद्धा में वेदन का एक ही प्रकार है'—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—धर्मी जीव की दृष्टि अपने ज्ञानानंदस्वरूप पर है; वहाँ वह अपने एक ज्ञानानंदस्वरूप का ही वेदन करता है; धर्मी की दृष्टि, हर्षादि के वेदन को अपने में स्वीकार नहीं करती; इसलिये श्रद्धा अपेक्षा से तो धर्मी को मात्र आनन्द ही वेदन है।

प्रश्न—'चारित्र अपेक्षा से वेदन के दो प्रकार' किस प्राकर हैं ?

उत्तर—धर्मी जीव को अपने ज्ञानानंदस्वभाव के भानपूर्वक जितने अंश तक उसमें लीनता हुई है, उतने अंश तक तो आनन्द का वेदन है और जितने हर्ष-शोकरूप अस्थिरता के भाव हैं, उतना आकुलता का वेदन है;—इसप्रकार साधकदशा में वेदन के दोनों प्रकार एक साथ वर्तते हैं।

प्रश्न—अज्ञानी के वेदन में कौन-सा प्रकार है ?

उत्तर—अज्ञानी 'हर्ष-शोकादि के भाव ही मैं हूँ'—ऐसी एकत्वबुद्धि के कारण एकान्त हर्ष-शोकादि भावों का ही वेदन करता है, इसलिये उसके वेदन में मात्र दु:ख का ही वेदन है।

प्रश्न—सर्वज्ञ के वेदन में कौन-सा प्रकार है ?

उत्तर—सर्वज्ञ के वेदन में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का एक ही प्रकार है; हर्ष-शोकादि का वेदन उनके किंचित् भी नहीं है;—इसप्रकार वेदन के सम्बन्ध में चार बोल हुए।

प्रश्न—वेदन के सम्बन्ध में चार बोल किस प्रकार हुए ?

उत्तर—(१) सर्वज्ञ को मात्र आनन्द का ही वेदन है।

(२) अज्ञानी को मात्र दु:ख का ही वेदन है।

(३) साधक ज्ञानी को अंशत: आनन्द का और अंशत: दु:ख का भी वेदन है।

(४) साधक को दोनों वेदन होने पर भी, दृष्टि अपेक्षा से मात्र आनन्द का ही वेदन है; वह हर्ष-शोकादि का अपने स्वभाव में एकत्वरूप से वेदन नहीं करता।

—इसप्रकार वेदन के चार बोल हैं। उनमें से समयसार की ७८ वीं गाथा में इस समय चौथे बोल की बात चल रही है।

(श्रावण पूर्णिमा-वात्सल्य के दिन समयसार गाथा ७८ के प्रवचन से)

सम्यक्त्व की महिमा सूचक

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—जीव को अनादिकाल से दुर्लभ क्या है ?

उत्तर—काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भवसमुद्र भी अनादि है; किन्तु अनादिकाल से भवसागर में भटकते हुए इस जीव ने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं की—एक तो श्री जिनस्वामी और दूसरा सम्यक्त्व; इसलिये वे दुर्लभ हैं। (परमात्मप्रकाश, २-१४३)

प्रश्न—ज्ञान और चारित्र की शोभा काहे से है ?

उत्तर—विशेष ज्ञान या चारित्र न होने पर भी, यदि अकेला सम्यग्दर्शन हो तो वह प्रशंसनीय है। किन्तु मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान या चारित्र प्रशंसनीय नहीं हैं।

(ज्ञानार्णव : ६-५५)

प्रश्न—अकेला प्रशंसनीय क्या है ?

उत्तर—विशेष ज्ञान-चारित्र न हो फिर भी अकेला सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय है।

प्रश्न—कौन-से ज्ञान और चारित्र प्रशंसनीय नहीं हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान या चारित्र प्रशंसनीय नहीं हैं।

प्रश्न—भवक्लेश को कम करने की औषधि क्या है ?

उत्तर—सूत्रज्ञ आचार्यदेवों ने कहा है कि—अत्यन्त अल्प यम, नियम, तपादि हों; तथापि वे सम्यग्दर्शन-सहित हों तो वह भवसमुद्र के क्लेशभार को कम करने की औषधि है।

(ज्ञानार्णव : ६-५६)

प्रश्न—कौन मुक्त है ?

उत्तर—श्री आचार्यदेव कहते हैं कि जिसके दर्शनविशुद्धि हो गई है, वह पवित्र आत्मा मुक्त ही है—ऐसा हम मानते हैं; क्योंकि दर्शनशुद्धि को ही मोक्ष का मुख्य कारण माना गया है।

(ज्ञानार्णव : ६-५७)

प्रश्न—जीव काहे के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं करता ?

उत्तर—जो ज्ञान और चारित्र के पालन में प्रसिद्ध हुए हैं—ऐसे जीव भी इस जगत में सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। (ज्ञानार्णव : ६-५८)

प्रश्न—कौन इस शुद्ध चैतन्यस्वभाव को प्राप्त नहीं कर सके ?

उत्तर—भेदज्ञान के बिना अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को कहीं कभी कोई तपस्वी अथवा शास्त्रज्ञ प्राप्त नहीं कर सके। भेदज्ञान से ही शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति होती है।

(तत्त्वज्ञान तरंगिणी : ८-११)

प्रश्न—कर्मसमूह का क्षय क्षणमात्र में कौन कर सकता है ?

उत्तर—भेदविज्ञानी महात्मा चैतन्यस्वरूप के प्रतिघातक ऐसे कर्मों के समूह का क्षणमात्र में क्षय कर देते हैं। किसप्रकार ?—कि जिसप्रकार अग्नि घास के ढेर को क्षणमात्र में भस्म कर देती है। (तत्त्वज्ञान तरंगिणी : ८-१२)

प्रश्न—मोक्षार्थी जीव को अत्यंत भाने योग्य क्या है ?

उत्तर—संवर और निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान होते हैं और आत्मज्ञान भेदज्ञान से होता है; इसलिये मोक्षार्थी जीवों को वह भेदज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

(तत्त्वज्ञान तरंगिणी : ८-१४)

भेदज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है और शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति से साक्षात् संवर संप्राप्त होता है; इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यन्त भावनीय है। (समयसार कलश : १२७)

प्रश्न—मनुष्य होने पर भी पशु जैसा कौन है ?

उत्तर—**'नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वप्रस्तचेतः सः'** जिसका चित्त मिथ्यात्व से घिरा है—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, मनुष्यत्व होने पर भी पशुसमान हिताहित के विवेकरहित अविवेकी आचरण करता है; इसलिये पशु है। (सागार धर्मामृत-४)

यह है गुरुदेव की घरेलू शैली का

एक नमूना

जिसप्रकार चने के स्वभाव में मिठास की शक्ति भरी है, कचास के कारण वह कसैला लगता है और बोने से उगता है; किन्तु सेकने से उसके स्वभाव का मीठा स्वाद प्रगट होता है और फिर वह उगता नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में मिठास अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द शक्तिरूप से व्याप्त है।

किन्तु उस शक्ति को भूलकर 'रागादि सो मैं, शरीर सो मैं'—ऐसी अज्ञानरूपी कचास के कारण उसे अपने आनन्द का अनुभव नहीं है, किन्तु आकुलता का अनुभव है और जन्म-मरण में अवतार धारण करता है।

अपने स्वरूप-सन्मुख होकर उसमें एकाग्रतारूपी अग्नि द्वारा सेकने से स्वभाव के अतीन्दिय आनन्द का स्वाद आता है और फिर उसे अवतार नहीं होता।

[पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन में यह चने का दृष्टान्त सैकड़ों बार दिया है; बिलकुल घरेलू भाषा में समझाने की उनकी शैली कितनी विशिष्ट है!]

यह है आनन्द का सागर

हे भाई! एक बार अपने आत्मा की ओर तो देख कि भीतर क्या भरा है!! जिस प्रकार सामने विशाल सागर उछल रहा हो, लेकिन देखनेवाला आँखें बन्द कर ले तो वह कैसे दिखाई देगा? सागर तो सामने भरा है किन्तु आँखें खोलकर देखे, तभी दिखाई देगा न! उसी प्रकार यह आत्मा स्वयं ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण महान चैतन्य-समुद्र है; किन्तु शरीर, सो मैं हूँ और शुभराग करने योग्य मानता है, यह राग जितना ही मैं हूँ—ऐसी भ्रमणा के कारण अज्ञानी को वह चैतन्य समुद्र दृष्टिगोचर नहीं होहता। यदि ज्ञान चक्षु खोलकर अंतर में देखे तो भगवान आत्मा, देह से तथा राग से पार ज्ञानानन्द से परिपूर्ण चैतन्य-समुद्र उछल रहा है, वह दिखाई दे।

सम्यग्दर्शन का उपदेश

प्रश्न—आप तो सम्यग्दर्शन पर ही खूब भार देते हैं ? और कहते हैं कि उसके बिना सब थोथा है; किन्तु जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो सके, तब तक शुभभाव करने का उपदेश क्यों नहीं देते ?

उत्तर—भाई ! अनादिकालीन भवभ्रमण का अंत कैसे आये तथा आत्मा की मुक्ति कैसे हो—उसके उपाय का यह उपदेश है; और उसका प्रारम्भ तो सम्यग्दर्शन से ही होता है। अशुभ तथा शुभ—यह दोनों प्रकार के भाव तो जीव अनादिकाल से उपदेश के बिना भी करता आया है; किन्तु उनसे कहीं भवभ्रमण का अंत नहीं आता; इसलिये उन पर क्या भार दें!! शुभराग भी दोष है, अपराध है, विकार है; उसकी रुचि करने को कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार 'अमृत न मिले तो तू विष खा लेना' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? हाँ, ऐसा कहा जाता है कि जब तक अमृत की प्राप्ति न हो, तब तक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना; किंतु विष कदापि मत खाना।—उसीप्रकार सम्यक्दर्शन न हो तो उसे सम्यक्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिये किन्तु राग को कदापि धर्म नहीं मानना चाहिये। राग को धर्म मानना, वह तो मिथ्यात्वरूपी विष का सेवन है; इसलिये जिसे भव से छूटना हो, उसके लिये तो प्रथम सम्यग्दर्शन का ही उपदेश है। प्रथम सम्यक् श्रद्धा द्वारा शुभाशुभराग जो पराश्रय है, उसे छुड़ाते हैं। अशुभ-(पाप) में जाने का उपदेश नहीं है, शुभभाव करने न करने की बात नहीं है, वह तो भूमिकानुसार आते ही हैं। प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण करने की बात है।

पुनश्च, जिज्ञासु जीव को सम्यक्दर्शन का अपूर्व उपाय समझते-समझते, उसका बहुमान तथा प्रयत्न करते-करते अशुभभाव दूर होकर उच्च प्रकार के शुभभाव तो सहज ही हो जाते हैं; इसलिये उसे उनके उपदेश की मुख्यता नहीं है। जिसप्रकार अनाज उत्पन्न होने पर भूसा भी साथ में उत्पन्न हो जाता है; लेकिन किसान का प्रयत्न तो अनाज के लिये होता है, भूसे के नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि की साधना करते-करते बीच की भूमिका में उच्चप्रकार का शुभराग भी आ जाता है, किन्तु धर्मात्मा का प्रयत्न तो सम्यग्दर्शनादि के लिये है—राग के लिये उनका प्रयत्न नहीं है, तथा उस राग को वे धर्म भी नहीं मानते।

अशुभ को दूर करके शुभ करे, उसे व्यवहार से तो ठीक कहा जाता है, किंतु जिसने

मनुष्यभव प्राप्त करके सम्यग्दर्शन नहीं किया और भवभ्रमण को अन्त नहीं लाया, उसके शुभ का क्या मूल्य ? उसने आत्मा का कौन-सा हित किया ? यहाँ तो आत्मा का हित हो और भवभ्रमण का अन्त आये-ऐसी बात है। जिस प्रयत्न से आत्मा के भव भ्रमण का अन्त न आये, उसका क्या मूल्य ?

पुण्य की सेवा करने से मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा की सेवा (श्रद्धा, ज्ञान, रमणता) करने से ही मोक्ष होता है; इसलिये उसी का उपदेश है। निश्चय सम्यग्दर्शन होने के बाद ही परंपरा का व्यवहार कथन लागू होते हैं। [—प्रवचन से]

आनन्द का उपभोग

अरे जीव !

तेरा आत्मा तो आनन्द की खान है, उसे यह विकार का अथवा विषय का उपभोग नहीं हो सकता। अपने ज्ञायकस्वभाव के आनन्द का उपभोग छोड़कर अनादि से इन विकाररूप विषयों का उपभोग कर-करके तेरा ज्ञानानन्द शरीर क्षीण हो गया... इसलिये भाई ! अब उस विकार के उपभोग में संतुष्ट न हो और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को सम्हाल। विकार का भोक्ता होने में तेरे आनन्दस्वरूप का घात होता है, इसलिये वह उपभोग छोड़। शुभाशुभ विकार तेरे ज्ञानस्वभाव से पृथक् है, उसका उपभोग करना तेरा स्वभाव नहीं है। इसलिये अंतर में लक्ष करके अपने ज्ञायकस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग कर ! यह अतीन्द्रिय भगवान, इन्द्रिय विषयों में मूर्छित हो जाये, यह शोभा नहीं देता। [पूज्य गुरुदेव]

उसने प्रभुता की ओर कदम बढ़ाया

जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि मेरा कल्याण किसके आधार से है ?

अपने आत्मस्वभाव में ही मेरी प्रभुता भरी है; अन्य किसी के आधार बिना मेरा आत्मा स्वयं अपना कल्याण करे—ऐसी मेरी प्रभुता है—इसप्रकार अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसका आदर करना, सो कल्याण का उपाय है; जिसने आत्मा की प्रभुता की प्रतीति कर ली, उसने अपनी प्रभुता की ओर कदम बढ़ाया.... प्रभु होने के मार्ग का उसने प्रारम्भ किया।

कोई दूसरा मुझे उबार लेगा—ऐसा जो मानता है, वह अपनी प्रभुता को नहीं मानता किन्तु अपने को पराधीन-गुलाम मानता है और इसलिये वह संसार में ही भटकता है।

भाई ! तेरी प्रभुता तुझमें भरी है, उसे सम्हाल तो उसमें से तेरी प्रभुता प्रगट होगी—बाहर से प्रभुता नहीं आ सकती। —पूज्य गुरुदेव।

महा शरण

सर्वज्ञदेव समस्त कर्मों को अविशेषरूप से बंध का साधन कहते हैं; इसलिये (ऐसा सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञदेवों ने) समस्त कर्मों का निषेध किया है और ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

—यदि समस्त कर्मों का निषेध किया गया है तो फिर मुनियों को शरण किसकी रही ?—तो कहते हैं कि—

शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मों का निषेध किया जाने से, और इसप्रकार निष्कर्म अवस्था वर्तने से मुनि कहीं अशरण नहीं हैं; क्योंकि जब निष्कर्म अवस्था वर्तती है, तब ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमित होता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; वे उस ज्ञान में लीन होते हुए स्वयं उस अमृत का अनुभव करते हैं—आस्वाद लेते हैं। [—समयसार कलश १०३-१०४]

मुक्ति सुन्दरी के नाथ

अहो, मोक्षमार्गी मुनिवरों की दशा!!

यह तो परमेश्वर का मार्ग है।

जैन मुनिवर परमेश्वरों से भेंट करने निकले हैं।

'—परमेश्वर से भेंट कैसे हो?'

मुनिवरों को अंतर के श्रद्धा-ज्ञान में तो परमेश्वर की भेंट हो गई है और अब अंतर में लीन होकर पूर्णानंदी परमेश्वर पद की साधना कर रहे हैं।

भगवान ने भेंट करने के लिये निकले हुए मोक्षमार्गी मुनिवर आनंद के सागर में झूल रहे हैं, उनके अंतरंग समुद्र में शांति का ज्वर आया है... आनन्द का समुद्र उछला है.... रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गई है... ऐसे मुनि, अहो! मानों चलते-फिरते सिद्ध हों—ऐसी उनकी अद्भुत दशा है।

मुक्ति सुन्दरी कहती है कि मैं ऐसे शुद्ध रत्नत्रय के साधक मुनिवरों का ही वरण करती हूँ।—ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर ही मुक्ति सुन्दरी के नाथ होते हैं। ''जय हो उन मुक्ति सुन्दरी के नाथ की!''

वीतरागी संत की वाणी

जैन धर्म की महत्ता

चैतन्यानन्द की मस्ती में झूलते हुए..... वन में बसनेवाले वीतरागी संत की यह वाणी है :—

जैनधर्म की महत्ता यह है कि मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव की प्राप्ति उसी में होती है; मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह जैनशासन में ही यथार्थ है... जैनशासन में सर्वज्ञ कथित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से ही मोक्ष के कारणरूप शुद्धभाव होते हैं और उसी से जैनधर्म की श्रेष्ठता है; इसलिये हे जीव! ऐसे शुद्धभाव द्वारा ही जैनधर्म की महिमा जानकर तू उसे अंगीकार कर और राग को पुण्य को धर्म न मान। जैनधर्म में तो भगवान ने ऐसा कहा है कि जो पुण्य को धर्म मानता है, वह मात्र भोग की ही इच्छा करता है; क्योंकि पुण्य के फल में तो स्वर्गादि के भोग की ही प्राप्ति होती है; इसलिये जिसे पुण्य की भावना है, उसे भोग की ही अर्थात् संसार की ही भावना है किन्तु मोक्ष की भावना नहीं है। [—प्रवचन से]

धर्मपिता के धाम में

तीर्थंकरों और संतों के पुनीत चरणों से पावन हुई भूमि में जब ज्ञानी तीर्थयात्रा के लिये जाते हैं, तब उन्हें ऐसा नहीं लगता कि हम परदेश में आये हैं; किंतु उन्हें तो ऐसे भाव होते हैं कि अहो! यह तो हमारे धर्मपिता का देश है। तीर्थंकर और संत हमारे धर्मपिता हैं.... हम अपने धर्मपिता के आंगन में आये हैं... हम अपने धर्मपिता के ज्ञान एवं आनन्द का उत्तराधिकार प्राप्त करने आये हैं... हे नाथ! आप हमारे धर्मपिता हो... हम आपके पुत्र हैं... आपके पदचिह्नों पर.... आपके पुनीत पंथ से हम सिद्धिधाम में आ रहे हैं.....

—इसप्रकार भगवान के पदचिह्नों पर चलनेवाले संत ही भगवान की सच्ची यात्रा करते हैं।

—नमस्कार हो.... उन सिद्धिधाम के यात्री संतों को!

अपराधी और निर्दोष

❋ शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के ग्रहण की बुद्धि, वह अपराध है और उस अपराध का फल संसार का कारागृह है।

❋ शुद्ध आत्मा का ही स्वद्रव्य रूप से ग्रहण (यानी उसी की श्रद्धा, उसी का ज्ञान और उसी में लीनता) निरपराधपना है और उसका फल मुक्ति है।

[—पूज्य गुरुदेव]

प्रश्न—अपराधी कौन है ?

उत्तर—जो परद्रव्य को अपना मानता है।

प्रश्न—निरपराधी कौन है ?

उत्तर—जो अपने शुद्ध आत्मा को ही अपना मानता है; उसके अतिरिक्त परद्रव्य को किंचित् भी अपना नहीं मानता।

प्रश्न—बंधन होने की शंका किसे होती है ?

उत्तर—जो अपराधी हो उसे।

प्रश्न—''मैं कदापि नहीं बँध सकता''—ऐसी नि:शंकता किसे होती है ?

उत्तर—जो जीव निरपराधी हो उसे।

[—समयसार गाथा ३०१-२-३]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।